जैन साहित्य : श्वेताम्बर, दिगम्बर

डा. रमेशचन्द्र राय

भारतवर्ष के तीन प्राचीन धर्मों–वैदिक, जैन एवं बौद्ध में से किसके मूल्य को प्राचीनतम माना जाय, अभी तक विवादास्पद ही है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनमें जो साहित्य उपलब्ध है उनमें प्राचीनता की ओर निर्देश करने वाली ऐसी कुछ परम्परायें सुरक्षित हैं जिनकी न तो पूर्ण उपेक्षा संभव है और न ही वैज्ञानिक तथ्य के रूप में ग्रहण करने का औचित्य। महाकाव्यों और पुराणों की परम्परा के अनुसार वैदिक साहित्य अपौरुषेय है अतः उसकी प्राचीनता का निश्चय करना निर्भ्रान्त रूप में संभव नहीं हो सका। बौद्ध साहित्य के विषय में यही धारणा है कि गौतम बुद्ध से पूर्व छः बुद्ध हो चुके हैं अतः उनका साहित्य उतना ही पुराना नहीं जितना गौतम बुद्ध के जीवन को आधार बनाकर कहा जा सकता है, ठीक यही स्थिति जैन साहित्य की भी है। महावीर स्वामी एक तीर्थंकर हैं जिन्हें ऋषभ देव से आरंभ होने वाली २४ तीर्थंकरों की सूची में चौबीसवाँ स्थान प्राप्त है। इस परम्परा पर विश्वास करने से इस माने की विवशता उत्पन्न होती है कि जो कुछ जैन साहित्य में सुरक्षित है वह ऋषभदेव से प्रारंभ होने वाले जैन साहित्य की परम्परा से एकदम विच्छिन्न नहीं कहा जा सकता। यदि इस तथ्य में कुछ प्रतिशत भी वैज्ञानिक सत्य स्वीकार किया जायेगा तो यह मानना पड़ेगा कि महावीर स्वामी (जीवनकाल) ५९९ ईसवी से ५३० ईसवी पूर्व से, बहुत पहले से ही किसी न किसी प्रकार का जैन साहित्य चला आ रहा था। मेक्समूलर आदि कुछ विद्वानों ने वैदिक संहिताओं का काल भी यही माना है। इस तरह जैन साहित्य जो पूर्वी भारत से उद्भूत होता है संभवतः प्राचीनता की दृष्टि से उतना ही पुराना है जितना वैदिक साहित्य जो उत्तरी-पश्चिमी भारत तथा गान्धार तक के प्रदेश में इसी काल में रचा और गाया जा रहा था

इस प्राचीनता पर जो सबसे बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा हुवा है वह यह है कि जो जैन साहित्य इस समय उपलब्ध है वह भाषा, भाव एवं विचार–तीनों दृष्टियों से उतना प्राचीन प्रतीत नहीं होता जितना परम्परा उसे सिद्ध करना चाहती है। जैन साहित्य के संग्रह के संबंध में जो परम्परायें सुरक्षित हैं वे इस तथ्य की पुष्टि में सहायक हैं। प्राचीनतम सुरक्षित साहित्य श्रुतांगों में विभाजित है–आयारंग, सूयगड, ढाणांग, समवायांग, विवाह पण्णत्ति, नामाधम्म-कहा, उवासगदशा, अंतगडदसा, अणुचरोववाइयदसा, पण्ह वागरण, विवाग सुयं। इनके अतिरिक्त दिट्ठिवाद श्रुतांग की चर्चा जैन साहित्य में सर्वत्र है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि महावीर स्वामी के संपूर्ण उपदेश उनके शिष्यों द्वारा दो भागों में करके ग्रहण किये गये–एक अंग प्रविष्ट दूसरा अंगबाह्य। अंग प्रविष्ट साहित्य वही था जिसके संबंध में दिगम्बर सम्प्रदाय यह स्वीकार करता है कि अब उसका कुछ अवशिष्ट नहीं रह गया तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय यह स्वीकार करता है कि वीर निर्वाण के पश्चात् दसवीं शताब्दी से बारह अंगों के रूप में संग्रहित हो चुका है। इस विवाद को देखकर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः चौथी शताब्दी में जब यह साहित्य संग्रहित हुआ तब जैन सिद्धान्तों में यह विश्वास घर कर गया था कि यह साहित्य परम्परागत होने पर भी अपने मूल रूप से विच्छिन्न हो गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय यह स्वीकार करता है कि बाह्य साहित्य पूर्णतः नष्ट हो गया है, यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। इनके अन्तर्गत स्वीकृत ग्रन्थों की प्रामाणिकता के संबंध में जो मत आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में दिया है वह दृष्टव्य है। भारतीय आचार्यों ने काल दोष से संक्षिप्त आयु, मति, और बलशाली शिष्यों के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्थों की रचना की। इन रचनाओं में उतनी ही प्रमाणता है जितनी पूर्व आधारों व श्रुत केवलियों द्वारा रचित सूत्रों में, क्योंकि वे अर्थ की दृष्टि से सत्र ही हैं, जिस प्रकार क्षीरोदधि से घड़े में भरा हुआ जल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीरोदधि से भिन्न नहीं है। इस कथन से यही ज्ञात होता है कि यद्यपि रचनाएँ महावीर स्वामी की न होकर उनके परवर्ती जैनाचार्यों की कही जा सकती हैं किन्तु ये आचार्य विद्वत्ता में उस ऊँचाई पर ही दिखाई पड़ते हैं जिस ऊँचाई पर महावीर स्वामी के शिष्य रहे होंगे। अतः शुद्ध रूप से महावीर स्वामी का वचन न होने पर भी जैन धर्म में इन्हें उतना ही आदर प्राप्त है जितना श्रुतांगों को।

श्वेताम्बर परम्परा ही जिन के वचनों को सुरक्षित मानती है अत. इस साहित्य के संग्रह के संबंध में उनमें यह परम्परा स्वीकृत है कि महावीर निर्वाण से १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूल भद्र आचार्य ने जैन श्रमण संघ का सम्मेलन कराया और वहाँ ११ अंगों का संकलन किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा था। अतएव उनका संकलन नहीं किया जा सका। उसके पश्चात् शताब्दियों में यह श्रुत संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया तब वीर निर्वाण के लगभग आठ सौ चालीस वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में एक संघ सम्मेलन कराया जिसमें पुनः आगम साहित्यों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय लगभग बल्लभी में नागार्जुन सूरि ने भी एक मुनि सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माथुरी और प्रथम बल्लभी वचनों के पाठ उपलब्ध नहीं केवल साहित्य में यत्र तत्र उनके उल्लेख मात्र पाये जाते हैं अन्त में महावीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् बल्लभीपुर में देवर्षिगणि क्षमा श्रमण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया, उसके कोई ४५-४६ ग्रन्थों का संकलन हुवा और ये ग्रन्थ आज तक सुप्रचलित हैं।[1]

इस तथ्य को ध्यान में रखकर यही मानना वैज्ञानिक है कि जैन साहित्य आज हमें जिस रूप में उपलब्ध है वह वही है जिसमें महावीर स्वामी अथवा उनसे पहले से आने वाली भाव-विचार परम्परा का अल्पांश ही सुरक्षित रह सका है उसका बहुतांश ईसा की चौथी शताब्दी के आसपास तक जो परिवर्तन और परिवर्धन हो सका था, उससे निर्मित है। इस साहित्य को हम श्वेताम्बर कह सकते हैं क्योंकि इसी सम्प्रदाय के आचार्य इसे प्रामाणिक मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य इसे उसी रूप में प्रामाणिक नहीं मानते जिस रूप में श्वेताम्बर। किन्तु उनका आधार भी यह ग्रन्थ है जिसके कारण उनके द्वारा भी उसी प्रकार का गौरव प्राप्त है जिस प्रकार श्वेताम्बरों द्वारा।

यह पूरा साहित्य श्रमणों के आचार-व्यवहार से संबंध रखता है तथा उनमें से कुछ तर्कशास्त्र दर्शन एवं विभिन्न प्रकार की विधाओं पर प्रकाश डालते हैं। इन पुस्तकों में श्रमणों के चरित्र पर भी विशेष बल दिया गया है। चरित्र का प्रस्तुतिकरण कथात्मक शैली में ऐसी मूर्ति विधायिनी शब्दावली में हुवा है कि उसमें साहित्य रस अनायास भर गया है। यही कारण है कि जो पाठक इनका अध्ययन धर्म आदि की दृष्टि से करते हैं वे साहित्यिक रस को फोकट के माल की तरह सहज ही प्राप्त करते चलते हैं। परवर्ती साहित्य में प्रबन्ध काव्यों, खण्डकाव्यों, कथा साहित्य, मुक्तक एवं गीतों को स्थान मिला, उसके मूल को भी हम इन्हीं रचनाओं में पाते हैं।

इस साहित्य में त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों की धारणा पर्याप्त पुष्ट रूप में दिखाई पड़ती है, ये पुरुष हैं–२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ वासुदेव तथा ९ प्रतिवासुदेव। इनमें साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त कर सके हैं, वे हैं–ऋषभ, नेमि, पार्श्वनाथ महावीर, पद्म, राम, कृष्ण तथा रावण। इन श्रुतांगों के अतिरिक्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, १० प्रकीर्णक तथा २ पूर्णिका सूत्रों, को भी आगम ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करता है। इस साहित्य पर भाष्य चूर्णियों और टीकाएं की गई हैं जिसमें इस साहित्य का पर्याप्त विस्तार हो गया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय इन रचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानता और यह स्वीकार करके चलता है कि महावीर स्वामी के गुणधरों और केवलियों को मिला हुवा साहित्य पूर्णतः नष्ट हो गया किन्तु फिर भी उस साहित्य का आंशिक ज्ञान मुनि परम्परा में सुरक्षित रह गया था। आचार्य धरसेन ऐसे प्रथम मुनि माने गये जिन्हें महावीर स्वामी से पूर्व से भी चले आने वाले पूर्वों के अंश का ज्ञान था जिसे उन्होंने अपने दो शिष्यों पुष्पदन्त और भूतबलि को प्रदान किया। इन दो मुनियों ने उसी ज्ञान के आधार पर षट्खण्डागम सूत्र की रचना की। यह रचना कन्नड़ लिपि में ताड़ पत्र पर सुरक्षित थी जिसे डा० हीरालाल जैन ने टीका और अनुवाद के साथ तेईस भागों में प्रकाशित कराया है। दिगम्बर सम्प्रदाय इसे ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ मानता है। विद्वानों के मतानुसार यह दूसरी ईसवी की रचना प्रतीत होती है। इसे चार अनुयोगों–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग में विभाजित किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से प्रथमानुयोग बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें पुराणों, चरितों, कथाओं तथा आख्यानों का समावेश किया गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में इन्हीं अनुयोगों का भाष्य चूर्णि और टीका द्वारा बहुत विस्तार से किया गया है। पाहुड़ नामक ग्रन्थ इन्हीं पर आधारित है जिनमें अनुयोगों के प्रतिपाद्य का ही पल्लवन हुवा है।

रामसिंह मुनि द्वारा पाहुड़ दोहा लिखा गया था जिसमें २२२ दोहे थे। इसी से मिलती–जुलती जो इन्दु की दो रचनाएं परमार्थ प्रकाश और योगसार है। इन तीनों रचनाओं में साहित्य की उन प्रवृत्तियों का मूल दिखाई पड़ता है जो परवर्ती हिन्दी साहित्य में सन्तों की रचना में देखने को मिलता है। पाहुड़ दोहा में बाहरी कर्मकांड को व्यर्थ कहा गया है तथा आत्म संयम एवं आत्म दर्शन में ही सच्चा कल्याण माना गया है। योगियों के बाह्याडम्बर पर करारा प्रहार है तथा शरीर को ही कुटिया देवालय मानने का उपदेश देते हुए आत्मा को शिव और इन्द्रिय वृत्तियों को शक्ति रूप में देखने का उपदेश कई दोहों में दिखाई पड़ता है। डा० हीरालाल जैन ने इसकी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यह ठीक ही कहा है कि 'शैली में यह रचना (पाहुड़ दोहा) एक ओर बौद्ध दोहा कोशों और चर्यापदों से समानता रखती है और कबीर जैसे संतों की वाणियों से दो दोहों (९९-१००) देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूप में वर्णन किया गया है जो पीछे से सूफी सम्प्रदाय की काव्यधारा का स्मरण दिलाता है।[2] वस्तुतः पाहुड़

---

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान
—डा० हीरालाल जैन, पृष्ठ ५५

२. भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का योगदान
—हीरालाल जैन, पृष्ठ ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोहा जैन साहित्य मुक्तक काव्य के उत्तम आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। इनमें साहित्यिक ऊंचाई रस परिपाक के रूप में तो नहीं है किंतु व्यक्ति की अभिव्यक्ति जिस रूप में हुई है वह इतना प्रभावशाली है कि इन दोहों को उच्च कोटि का काव्य मानने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता।

जैन साहित्य में संस्कृत साहित्य की तरह ही एक समृद्ध स्रोत साहित्य भी मिलता है। २४ तीर्थंकरों की स्तुति जैन मुनियों के षट्कर्मों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है। इन स्तुतियों में एक रूपता है किन्तु इन्हें भक्तिभावपूर्ण मुक्तक रचनाओं के रूप में देखना उचित होगा तथा प्रभाव की दृष्टि से भी ये उसी स्तर की संस्कृत में दिखाई पड़ती है अथवा परवर्ती हिन्दी कवि तुलसीदास की रचनाओं में जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण जिस काव्य विधा का विकास हुवा वह चरित काव्य है जिसे प्रबन्ध अथवा महाकाव्य कहा जा सकता है। कदाचित् भारतीय साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों में विमलसूरि का पद्मचरिउ (पद्म चरित) सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि रामकथा को आधार बनाकर जितने काव्य लिखे गये हैं उनमें प्राचीनतम वाल्मीकि रामायण, महाभारत का रामोपाख्यान कुछ बौद्ध जातक कथाएं और विमल सूरि का पद्म चरिउ ही है। इनमें महाकाव्य के स्तर पर वाल्मीकि रामायण और पद्म चरिउ ही दिखाई पड़ते हैं। पद्मचरिउ में प्राप्त रचना तिथि के अनुसार यह रचना तीन से सात ईस्वी की ठहरती है। वाल्मीकी रामायण के संबंध में ऐसा ठोस आधार नहीं जिससे हम उसकी तिथि का निर्भ्रान्ति निश्चय कर सकें। अधिकांश विद्वान उसे दूसरी ईस्वी से लेकर चौथी ईस्वी तक विकसित होने वाली रचना मानते हैं इस तथ्य को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि पद्मचरिउ वह प्राचीनतम रामकथा पर आधृत महाकाव्य है जो अपने मूल रूप में सुरक्षित है। इसकी भाषा को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसी शंका की है कि यह रचना उतनी प्राचीन नहीं हो सकती जितनी उसमें दी हुई तिथि से प्रमाणित होती है। इस आपत्ति के साथ उसमें प्रयुक्त शब्दों छन्दों आदि के आधार पर इसे चौथी शताब्दी की रचना मानने का सुझाव दिया गया है। किसी भी स्थिति में यह राम काव्य की ऐसी धारा की ओर संकेत करती है जो वाल्मीकि को प्राप्त धारा अथवा बौद्धों को प्राप्त धारा से भिन्न थी। इसकी कथा संयोजना एवं चरित्र विधान पूरा का पूरा ऐसा है जिसे किसी अन्य स्रोत से विकसित मानना ही उचित होगा। विमलसूरि ने यह कहा है कि मैं उसी कथा को कह रहा हूं जो उन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों से प्राप्त थी। यह तथ्य भी इस बात की ओर संकेत करता है कि जैन रामायण संस्कृत रामायण की तुलना में उसके समकक्ष ही ठहरती है और यह मानना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकि रामायण से ली गई है।

रामकथा कहने की यह प्रवृत्ति जैन साहित्य में लगातार बनी रही। यह प्रवृत्ति दो भागों में बंटी दिखाई पड़ती है, एक के अनुसार इस कथा को स्वतंत्र महाकाव्य का आधार बनाया गया है। विमलसूरि का प्राकृत में पउम चरिउ एवं रविषेण का संस्कृत में पदमचरित तथा स्वयं का अपभ्रंश में पदम चरिउ इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

दूसरी प्रवृत्ति यह रही है कि त्रिषष्टिशलाका पुरुषों में से राम को एक पुरुष मानकर उनकी कथा पुराणों के अन्तर्गत रखी गई है। पुराणों में जो कथानक स्वीकार किया गया है वह इन महाकाव्यों के कथानक से कुछ भिन्न है। इस दृष्टि से पुष्पदन्त का उत्तर महापुराण दृष्टव्य है। संस्कृत में लिखी उत्तर पुराणों में भी महाकाव्यों से भिन्न कथा ही अपनाई गई है। यह विचारणीय विषय है कि इन दोनों प्रकार की कथाओं का मूल स्रोत एक ही अथवा भिन्न। वस्तुतः संस्कृत की रामायणों तथा जैन रामायणों और बौद्ध रामकथाओं का तुलनात्मक अध्ययन इस दृष्टि से बहुत रोचक हो सकता है कि इनका मूल स्रोत क्या था और उसमें क्रमिक परिवर्तन तथा परिवर्धन किस तरह होता रहा।

राम काव्य के अतिरिक्त कृष्ण काव्य को भी जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। हरिवंशपुराण के नाम से ये रचनायें संस्कृत और अपभ्रंश में मिली हैं। इस कथा का भी तुलनात्मक अध्ययन अन्य पुराणों के साथ करके रोचक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—विशेषकर मूल स्रोत और क्रमिक विकास के संबंध में।

किन्तु इन दोनों चरित काव्यों के अतिरिक्त अन्य त्रिषष्ठि शलाका पुरुषों के चरित्र पुराणों में तथा स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में भी मिलते हैं। इन सभी प्रबन्धों में छन्द, भाषा, अलंकृति एवं भावाभिव्यक्ति साहित्य के उच्च स्तर पर ही हुई है। महापंडित राहुल ने स्वयं के पउमचरिउ की प्रशंसा मुक्त कंठ से करते हुए यहाँ तक कहा है कि वह रचना काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से तुलसी के रामचरित मानस से कहीं आगे है। किसी विद्वान ने विमलसूरी की रचना के संबंध में इस तरह की बात नहीं कही है किन्तु प्राकृत में जो ग्राम्य नायिका जैसी छटा है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी कोमलता और माधुर्य के लिए यह रचना अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानती। हिन्दी में यह धारा आई तो नहीं किन्तु हिन्दी के प्रबन्धों की रूप रचना का आदर्श यही रचना में रहा है इसमें सन्देह के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है।

प्रबन्धों के अतिरिक्त गेय मुक्तकों एवं गीतों की परम्परा भी जैन साहित्य में अत्यन्त समृद्ध दिखाई पड़ती है। गेय मुक्तकों में वज्जालग उसी प्रकार की रचना है जिस प्रकार की गाथा सप्तशती। गीतों का विकास इसके परवर्ती अपभ्रंश में ही दिखाई पड़ता है जिससे यह ज्ञात होता है कि परवर्ती अपभ्रंश साहित्य में जैन मुनियों का ध्यान आकृष्ट होने लगा था। फागू काव्य अलंकार और रस की दृष्टि से वैभवपूर्ण एवं गीत कथा प्रबन्ध दोनों के तत्वों को समन्वित किये हुए है, हिन्दी में ये दोनों प्रवृत्तियां आई हुई प्रतीत होती हैं। बज्जालग प्रवृत्ति दोहों में सुरक्षित है जिसका चरम विकास बिहारी सतसई में दिखाई पड़ता है। गीत और प्रबन्ध को मिलाने की प्रवृत्ति कृष्ण भक्ति शाखा के अधिकांश कवियों में है तथा तुलसी की गीतावली इस प्रवृत्ति के आदर्श रूप में देखी जा सकती है।

(शेष पृष्ठ १११ पर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org